 ISSN : 2583-2948

अनुसंधान और आलोचना में सहसंबंध

डॉ पशुपतिनाथ उपाध्याय
सेवा निवृत्त प्राध्यापक - अलीगढ़
मो॰ – 989745243

वस्तुत: साहित्य की सर्जन प्रक्रिया, आस्वादन प्रक्रिया एवं उसकी अनुसंधान पद्धति की व्याख्या भी साहित्यालोचन और साहित्यानुसंधान का वर्ण्य – विषय है। संप्रति साहित्य के स्वरूप, तत्व, भेद, रूप, शैली, गुण – दोष आदि के संबंध में प्रचलित मतों और अवधारणाओं के बीच संतुलन एवं समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है क्योंकि आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है – ऐसी स्थिति में साहित्य और साहित्यानुशीलन भी प्रभावित हुआ है। साहित्यिक अध्ययन अनुसंधान और आलोचना में सह संबंध स्थापित करते हुये प्रामाणिक रूप दे सकता है। साहित्यानुसंधान के क्षेत्र में शताधिक शोध प्रबंध प्रति वर्ष लिखे जा रहे हैं लेकिन नई शिक्षा नीति के अंतर्गत नवीन तथ्यों, तत्वों, सिद्धांतों एवं मूल्यों को दृष्टिगत रखते हुये उनकी उपयोगिता प्रमाणित करते हुये संप्रति शोध – प्रबंध लिखने की आवश्यकता है ताकि उनमें नवीन निष्कर्षों की उपलब्धि की जा सके। पूर्व में निर्धारित साहित्यिक प्रतिमान संप्रति ' आउट डेटेड' हो गए हैं, वे अब 'ओल्ड इज गोल्ड' की पुरातन परंपरा को खारिज कर चुके हैं। इसीलिए वे आज अवैज्ञानिक कोरे सैद्धान्तिक एवं अप्रमाणित घोषित हो चुके हैं, जिनके मूल में इन्टरनेट की तीव्र प्रक्रिया, भूमंडलीकरण एवं वैश्विक स्तर पर मान – मूल्यों का द्रुतगति से होता परिवर्तन निहित है।

वैज्ञानिक और कंप्यूटराइज्ड प्रगति के कारण अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्र में जिन मानदंडों को परंपरागत रूप से अभी तक आधारभूत रूप में ग्रहण किया जाता रहा है, वे अपने आप में व्यक्ति, देश काल आदि की सीमाओं से आबद्ध होने के कारण संकीर्ण, संकुचित, सीमित, अनिश्चित, विवादास्पद एवं अप्रमाणित सिद्ध हो गए हैं। ऐसी परिस्थिति में किया गया समस्त अनुसंधान – कार्य एवं आलोचना – कर्म अवैज्ञानिक और अप्रमाणित होने की संभावना है। एकांगी निष्कर्ष न तो साहित्यिक अनुसंधान के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और न ही आलोचना के लिए। साहित्य के अध्ययन का संबंध मात्र साहित्यिक कृतियों से ही नहीं अपितु साहित्य की उन सभी प्रक्रियाओं से – विधियों से भी है जो साहित्य के सर्जक, पाठक, शोधार्थी एवं अनुशीलनकरता के मानस में घटित होती है।

अनुसंधान और आलोचना के सह संबंध को विवेचित करते समय वैश्विक साहित्यिक दृष्टि, पर्यावरण एवं वैश्विक परिवेश को भी दृष्टिगत करना होगा। ताकि सत्य का उद्घाटन हो सके और साहित्यिक न्याय हो सके। वास्तव में साहित्य विश्ववाङ्गमय का द्योतक और वैश्विक सभ्यता का प्रतीक है। अतएव अनुसंधान और आलोचना की धारा भी उत्तरोत्तर उसी दिशा में उन्मुखवती हुयी है और आज भी हो रही है। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य की परम्परा को दृष्टिगत रखते हुये अनुसंधान और आलोचना के सह – संबंध को यहाँ पर रेखांकित किया गया है। रस या अनुभूति को सर्वाधिक प्रमुखता भारतीय साहित्य में दी गई है। उसी रूप में अनुसंधान शोध भी तथा आलोचना

विधा भी प्रभावित हुयी है। पाश्चात्य साहित्य में सर्वप्रथम प्लेटो ने काव्य (साहित्य) को बुद्धिवृत्ति के स्थान पर हृदयवृत्ति कहकर उसी अनुरूप अपनी नवीन और मौलिक विचारधारा की स्थापना की। भरतमुनि भावानुभूति के पोषक रहे हैं जबकि प्लेटो भावानुभूति के आधार पर कवियों को गणतन्त्र से बहिष्कृत करने के पक्षधर रहे हैं। भारतीय साहित्य में दार्शनिक धरातल पर अधिष्ठित अनुसंधान और आलोचना के अनुभूत्यात्मक आनंदवृत्ति को स्वीकार किया गया है जबकि पाश्चात्य में बुद्धिवृत्ति पर आधृत कलात्मक साम्य के प्रति आग्रह का भाव देखा गया। भारतीय साहित्य में भाव और संवेदनात्मक आस्वाद पर विशेष बल रहा है जबकि पाश्चात्य में प्रकारांतर से बुद्धि और कलात्मक सौंदर्य संयोजन के प्रति विशेष आग्रह रहा है। भरतमुनि से लेकर क्षेमेन्द्र तक के आचार्यों ने क्रमश: रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य संप्रदाय को साहित्य में स्थान दिये जिनमें भारत, भामह, वामन, आनंदवर्धन, कुंतक एवं क्षेमेन्द्र का योगदान रहा है। अभिनव गुप्त से साहित्य के क्षेत्र में एक नए युग का शुभारंभ हुआ जिसे 'प्रतिष्ठायुग' कहा गया। ईसा की बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक के युग को 'समीक्षा युग' कहा गया। चौदहवीं शती के 'साहित्य दर्पण' के प्रणेता विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकम काव्यं' से पुन: भरतमुनि के पश्चात रस को काव्य प्रतिमान घोषित किया जो परवर्ती युग में साहित्य निकष के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्र में भी रस अन्य संप्रदायों की अपेक्षा अधिक प्रचलित और चर्चित रहा। सत्रहवीं में पंडित राज जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ 'रस गंगाधर' में अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय देते हुये कहा कि – 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द : काव्यं'। यह उनके आधुनिक मनोभाव का प्रतिफल था जिसने रस के स्थान पर सौंदर्य को काव्यप्राण स्वीकार कर एक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यहाँ पर रमणीयता में ही आनंद की अनुभूति की गई क्योंकि समाज उन्हीं काव्य कृतियों के प्रति आकृष्ट होता है जिनकी अभिव्यक्ति सुंदर होती है। सौंदर्य के प्रति प्रमाता का आकर्षण स्वाभाविक रूप से होता है। यही कारण है कि सौंदर्यमयी काव्यरचना का आस्वाद कर समाज आनंदित हो उठता है।

भारतीय साहित्य में छ: संप्रदायों का विवेचन हुआ है, जिसमें अलंकार उक्ति चमत्कार, रीति व्यापक अर्थ में शैली है, वक्रोक्ति एवं ध्वनि क्रमश: कलात्मक एवं रमणीय कल्पना तथा औचित्य भाव प्रेरित विचार है। रसवाद का आधार ही भावानुभूति है, यह कवि – चित्त का एक अद्भुत अनुभूतिजनित स्पंदन है। रस वास्तव में भाव की परिणति है तथा काव्य निर्माण का लक्ष्य रस ही होता है, अधिकांश साहित्य चिंतकों ने इसे स्वीकार किया है। पाश्चात्य में शैली का एक अर्थ आदर्शरूप भी स्वीकार किया गया है जिसमें विशेष और सामान्य वैयक्तिक और सार्वजनिक तत्वों का पूर्णतया समंजित रूप मिलता है तथा इसमें व्यक्तिपरक और वस्तुपरक दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय है। यद्यपि छ: संप्रदायों की विचारधारा में भिन्नता है , फिर भी काव्यास्वाद के रूप में सभी आनंद की सार्थकता और उपादेयता स्वीकारते हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्री नैतिकता से अधिक आनंद, रसानंद, की महत्ता को स्वीकारते हैं। उनकी मान्यता है – 'सकाल प्रयोजन मौलीभूतम आनंदम'। अतएव रसानन्द में ही नैतिकता अंतर्निहित मानी गई है। सत्य के उद्रेक को रस परिपाक का अनिवार्य उपबंध स्वीकारा गया तथा रस सिद्धान्त उदात्त नैतिक मूल्यों का प्रबल समर्थन किया - यह प्रवृत्ति मुख्यतया अनुसंधान और आलोचना में समान रूप से स्वीकार की गयी तथा इससे दोनों के सह संबंध को विशेष बल मिला है।

पुरुषार्थ चतुष्टय – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि वास्तव में काव्य के उदात्त स्वरूप एवं गरिमा का परिचायक है, जिससे पाठक का मानस द्रवीभूत हो उठता है। लोंजाइनस के मतानुसार व्यापक अर्थ में सौंदर्य आत्मा का आनंद है। काव्य सृष्टि इस प्रकार सौंदर्य सृष्टि ही है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा में मैथ्यू ऑर्नाल्ड काव्य को जीवन की

समीक्षा कहा है। युग प्रवर्तक ऑर्नाल्ड की यह नवीन स्थापना भी, जिसका आभास हमें संस्कृत काव्यशास्त्र में हो चुका है। काव्य भी जीवन की आलोचना है – यह ऑर्नाल्ड का एक नया अनुसंधान विक्टोरियन युग में था। अतएव प्रकारांतर से काव्य के साथ – साथ साहित्य, साहित्यानुशीलन, अनुसंधान एवं आलोचना भी परस्पर सम्बद्ध हैं और ये जीवन के आधार पर आनंद को ही प्रकट करते हैं। ऑर्नाल्ड, मिल, रस्किन आदि समीक्षकों ने कलावाद – युक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। भारतीय समीक्षा में मम्मट, हेमचन्द्र, अभिनव गुप्त आदि ने भी भुक्तिवाद तथा लोकमंगल की महत्ता स्वीकार की है।

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की साम्यमूलक तुलना के परिप्रेक्ष्य में डॉ इन्द्रनाथ चौधरी ने स्पष्ट उल्लेख किया है जिससे अनुसंधान और आलोचना के सह संबंध का पता चलता है। स्वच्छन्दतावादी युग में ही कांट की दार्शनिक भाववादी व्याख्या के आधार पर समीक्षा (अनुसंधान – आलोचना) में सौंदर्य की प्रतिष्ठा हुयी थी और उसी को आधार बनाकर क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा की। अभिव्यंजनावाद कल्पना तथा चारुत्व से युक्त अभिव्यंजना का महत्व है। अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति एवं ध्वनि की कलात्मक एवं रमणीय कल्पना की द्योतना स्पष्ट है। क्रोचे ने अपने सिद्धान्त में सौंदर्य के आधार पर कल्पनायुक्त अभिव्यक्ति को प्रधानता दी है, परंतु यह निश्चित है कि अभिव्यक्ति विषय से अलग रहकर सुंदर नहीं बन सकती। आज तक जो भी रचना महान अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकृत हुयी है वहाँ रचना विषय के महत्व को ही अभिव्यक्त कर महान बनी है और फिर प्राच्य रस तथा पाश्चात्य सौंदर्य – ये दोनों ही वस्तु या विभाव का अवलंबन लेकर पुष्ट होते हैं और दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु और विभाव का सौंदर्य भावों की अभिव्यक्ति से उपस्थित होता है – अर्थात भाव की रसरूप अभिव्यक्ति से ही सौन्दर्य उपस्थित होता है। स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों में अनुभूति की अभिव्यक्ति ही रस और सौन्दर्य का स्थान ग्रहण करती है तथा दोनों में सह संबंध है, दोनों में समन्वय की भावना है और दोनों ही अभिव्यक्ति के स्तर पर सामंजस्य का वाचक बनकर सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति कराते हैं। पाश्चात्य साहित्य – चिंतक केरिट और संतायन ने भी सौन्दर्य को ही आनंद की परिणति माना है। इस प्रकार सौंदर्य भी रस की तरह प्रमाता में आत्मगत बोध के अनुरूप आलोकित होता है तथा आनंदस्वरूप परम सार्थकता प्राप्त करता है।

रस सिद्धान्त में साधारणीकरण की प्रक्रिया मानव मूल्यों की ही स्वीकृति है। एवं मानवीय संवेदनात्मक वृत्ति का परिचायक है। आनंद और कल्याण का मिलन - तीर्थ रस – सिद्धान्त शुद्ध मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित है। रिचर्ड्स ने मूल्यों को आवेगों का सामंजस्य करार दिया है क्योंकि रस प्रक्रिया में भावों की अनुभूति को अखंड माना गया है और रस अखंडता में ही समंजन की भावना निहित है। संप्रति अनुसंधान और आलोचना में भी समन्वयकारी पुनराख्यान करने की महती आवश्यकता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हुआ भी है – हिन्दी आलोचना इसका साक्ष्य है। वास्तव में संस्कृत काव्यशास्त्र जिसे हम भारतीय `साहित्यशास्त्र भी कहते हैं, पाश्चात्य काव्यशास्त्र से सह संबंध रखता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा वैश्वीकरण की प्रक्रिया में दोनों के समन्वय से, सह संबंध से ही आदर्श काव्यशास्त्र का निर्माण हो सकता है। इसी सह संबंध और सामंजस्य से ही काव्यशास्त्रीय सभी समस्याएँ हमारे समाधान का विषय बन सकती हैं। इस समन्वय कार्य में आधुनिक हिन्दी के साहित्य चिंतक संलग्न हैं तथा समन्वयवादी आलोचना पद्धति भी विकसित हो चुकी है। अनुसंधान और आलोचना के सह संबंध के विषय में इतना कहा जा सकता है कि हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य सर्जकों का ध्यान इस समन्वयवादी अनुसंधान और आलोचना की ओर आकृष्ट हुआ है। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रासधारा से परिपुष्ट आधुनिक

साहित्यशास्त्र का निर्माण संभव हुआ है। इस समन्वयकारी पुनराख्यान में आधुनिक साहित्य चिंतकों ने विचारों की सुनिश्चित उपस्थापना करते हुये अपनी अभिनव मौलिकता का भी परिचय दिया है एवं नवीन उपलब्धियों की स्थापना कर अनुसंधान और आलोचना परिवेश को गौरवान्वित किया है। वस्तुत: अनुसंधान और आलोचना दोनों का क्षेत्र व्यापक है तथा इनका एक निश्चित मानमूल्य एवं मानदंड है। अनुसंधाता के लिए साहित्य सृजन प्रतिभा के साथ साथ विचार – बुद्धि, यथार्थवादी दृष्टि एवं वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति आवश्यक है। शोधार्थी को अपनी युक्ति, तर्क एवं श्रृंखलाबद्धता आदि के साथ शोधप्रक्रिया एवं सिद्धांतों को अंगीकार करते हुये लेखन सम्पन्न करना चाहिए। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य अनुशीलन को मद्देनजर रखते हुए समन्वय और सामंजस्य के धरातल पर ही अनुसंधान करने की महती आवश्यकता है तथा इसी से आलोचना में भी एक सुव्यवस्थित और ठोस धरातल तैयार होगा। आज अनुसंधान और आलोचना में सह संबंध स्थापित करते हुये विश्वजननीता की खोज करनी है। अनुसंधान के सार्वकालिक लक्षण और सौंदर्यनुभूति के तत्वों को समन्वित करने की आवश्यकता है। अनुसंधान और आलोचना सर्वांगीण रूप से विश्वजनीन होनी चाहिए , तभी ये वैश्विक धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के साथ समष्टिगत समग्रता की उपलब्धि भी अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्र विकास के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। युगधर्म के साथ विश्वजनीन और सार्वकालीन सत्यन्वेषण, तथ्यान्वेषण एवं तत्वान्वेषण की उपलब्धि वास्तव में संप्रतीक अनुसंधान की अभिनव उपलब्धि सिद्ध होगी। अतएव अनुसंधान और आलोचना के सहसंबंध को और अधिक सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने की आज महती आवश्यकता है। आलोचना को भी सर्वांगीण रूप से पूर्णता प्रदान करने हेतु ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी, रसवादी, शैली वैज्ञानिक एवं स्वछंदतावादी आदि समीक्षा पद्धतियों के साथ – साथ सार्वकालिक काव्यशास्त्रीय नियमों को अपनाने की भी आवश्यकता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि जिस साहित्यशास्त्र में पाश्चात्य नवीन आलोचना पद्धति के साथ भारतीय तथा यूनानी साहित्यशास्त्र की विश्वमानवता समन्वित है, वही आदर्श आलोचनाशास्त्र बन सकता है।

अनुसंधान के दो स्थूल भेद देखने को मिलते हैं जिनमें प्रथम सोपाधि और द्वितीय निरुपाधि है। उपाधि सापेक्षता पर विचारोपरांत निष्कर्ष निकलता है कि इसके निम्नलिखित अनुबंध विधान हैं –

1- अनुपलब्ध तथ्यों के खोज या अन्वेषण
2- उपलब्ध तथ्यों के पुनराख्यान
3- ज्ञानक्षेत्र का सीमा विस्तार
4- मौलिक अनुशीलन
5- सुष्ठु प्रतिपादन शैली

विश्वविद्यालय स्तर पर ही शोध कार्य सम्पन्न कराये जाते हैं जिसमें महाविद्यालय के शोधार्थी भी सम्मिलित होते हैं। विश्वविद्यालयों से संबद्ध महाविद्यालयों में भी पी-एच॰डी॰ और डी॰ लिट् की उपाधियाँ प्राप्त करने हेतु शोधार्थी अपना नामांकन कराते हैं। कुछेक विश्वविद्यालयों में एम॰ फिल॰ की भी व्यवस्था है जिसमें लघु शोध प्रबंध लिखे जाते हैं। अनुसंधान में नवीन तथ्यों का अन्वेषण किया जाता है, उस पर गंभीर चिंतन – मनन कर उसका साहित्यिक उपयोग किया जाता है। सिद्धांतों का आख्यान या पुनराख्यान भी अनुसंधान के अंतर्गत किया जाता है। अतएव नवीन आख्यान, नव्यता से दिव्यता और भव्यता की प्रवृत्ति हो – वह नव्य

आख्यान ही अनुसंधान में मान्य है। तथ्यों के आख्यान का आशय स्पष्ट रूप से तथ्यों के परस्पर सम्बन्धों का उद्घाटन ही होता है क्योंकि शोधार्थी द्वारा अभिव्यंजित जीवन सत्य ही मानव सत्य का स्वरूप सिद्ध करता है। तथ्य जड़ होते हुये भी मानव चेतना के संसर्ग पाकर जीवंत हो उठता है। उसमें चैतन्यता आ जाती है। मानव चेतना के स्पर्श से, संसर्ग से उसमें एक नवीन अर्थज्योति समाहित हो जाती है। इस प्रकार तथ्यों के आख्यान की उपलब्धि निहित व्यंजना को विहित करना है।

तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान में अंतर होता है क्योंकि सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य समन्वित रहते हैं जिसके लिए आधारभूत तथ्यों की आवश्यकता होती है। कुछेक तथ्य निहित होते हैं तो कुछ विहित होते हैं। इसीलिए निहित तथ्य को विहित करने हेतु अनुसंधान की आवश्यकता होती है। तथ्यानुसंधान के दो प्रकार देखे जा सकते हैं। प्रथम काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण और द्वितीय विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। युगीन परिस्थितियों के आकलन, अनुशीलन एवं विश्लेषण के लिए भी गहन छानबीन तथा अन्वेषण की आवश्यकता होती है। तथ्याख्यान के अंतर्गत विशेषकर जीवनचरित, समग्रता में अनुशीलन, व्यंजना का स्पष्टीकरण आदि तथ्यों का व्यवस्थित एवं संतुलित आख्यान तैयार किया जाता है। यह व्यंजना अनेक रूपों में व्यंजित हो सकती है जिसके परिणाम स्वरूप आख्यान भी नवीन हो सकता है। आकर्षण सुंदरता में नहीं नवीनता में है। तथ्याख्यान के दो स्तर हैं – बहिरंग और अंतरंग। इसे बाह्य और आभ्यांतर भी कह सकते हैं। आभ्यांतर अर्थात अर्थात अंतरंग के अंतर विषयवस्तु की आत्मा का अनुशीलन किया जाता है जबकि बहिरंग के अंतर्गत विषयवस्तु के शरीर का आकलन और मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार उनमें निहित दार्शनिक विचारों, नैतिक मूल्यों, जीवनादर्शों, शैलीगत तत्वों का, भाषायी संप्रेषणीयता का, शब्द समूह, वाक्यविन्यास आदि का विवेचन अभीष्ट होता है । तथ्याख्यान के अंतर्गत तथ्यों के संकलन, एकत्रीकरण को दृष्टिगत करते हुए अनुसंधान की जिज्ञासु प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए ताकि काव्य या साहित्य के मर्म का सही उद्घाटन किया जा सके। किसी भी कृति विशेष में भाव पक्ष और कला पक्ष को मद्देनजर रखते हुए तथ्याख्यान की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए। साम्यमूलक और वैषम्यमूलक चिंतन भी इसमें उपयोगी सिद्ध होगा। काव्य में वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता को भी तथ्याख्यान का वर्ण्य विषय बनाया जा सकता है – इस प्रकार के तत्वों से, आकलन से तथ्य निर्मित होते हैं और अंततोगत्वा महत्वपूर्ण सत्य का उद्घोष करते हैं। काव्य या साहित्य का आस्वाद मन: शांति रूप ही है, इसे बुद्धि चमत्कृत नहीं कहा जा सकता। अतएव तथ्यों का पारस्परिक समन्वय और सामंजस्य ही व्यंजना करता हुआ काव्य या साहित्य के मर्म तक पहुँचने में सहायता करता है जिसे अनुसंधान की शैली में तथ्याख्यान कहा जाता है।

अनुसंधान शब्द आंग्लभाषा के 'थीसिस' का पर्याय है जो संस्कृत के न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है – इसका आशय कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसमें अनुगमन या निगमन शैली के माध्यम से विश्लेषित, परिभाषित या सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव में शोध प्रबंध का प्राणतत्व प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि विद्वानों द्वारा स्वीकार की गयी है । अनेकता में एकता का संधान जहां शोधकर्ता करता है वहाँ अनुसंधान स्वत: सिद्ध हो जाता है। डॉ नगेन्द्र के कथन से भी इसकी पुष्टि हो जाती है – 'अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है। इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अत: शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है। (साहित्यिक अनुसंधान : सिद्धांत और प्रक्रिया, पृ॰ – 19)

ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार अनुसंधान का तीसरा महत्वपूर्ण तत्व है। इसे ही अनुसंधान का प्राणतत्व वैयक्तिक धर्म के रूप में स्वीकारा गया है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धांतों का नवीन आख्यान, विवेचन- विश्लेषण – ये तत्व इसी सिद्धि का द्योतन करते हैं। ये तत्व ज्ञानवृद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं तथा ज्ञान की वृद्धि, अभिवृद्धि, समृद्धि आदि वास्तव में अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य है। विवेचन-विश्लेषण, सम्प्रेषण, प्रतिपादन शैली आदि भी अनुसंधान के महत्वपूर्ण धर्म हैं। अतएव विचार या भाव का सम्प्रेषण स्वमेव साहित्यिक अध्ययन का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है – इस दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है।

आलोचना से अभिप्राय सर्वांग निरीक्षण – परीक्षण है। साहित्य के क्षेत्र में किसी भी कृति का सांगोपांग निरीक्षण, परीक्षण एवं सर्वेक्षण आलोचना विधा के अंतर्गत आता है जिसके मुख्य कर्तव्यकर्म और धर्म यहाँ प्रस्तुत किया गया है –

1- प्रभाव ग्रहण करना
2- विवेचन – विश्लेषण करना
3- मूल्यांकन का आकलन करना
4- निष्कर्ष में नैतिक मूल्यों या जीवनादर्शों को रेखांकित करना।

उपर्युक्त बिन्दुओं के प्रकाश में यह तथ्य स्वीकार किया जा सकता है कि आलोचना में सर्वप्रथम प्रमाता के हृदय पर कृति द्वारा जो प्रभाव पड़ा है तथा उस प्रभाव को सकारात्मक या नकारात्मक रूप में ग्रहण किया गया है तथा उस पर पाठकीय प्रतिक्रिया किस रूप में हुयी है – इसको रेखांकित किया जाता है। तत्पश्चात क्रिया – प्रतिक्रिया का विवेचन – विश्लेषण तटस्थता के धरातल पर निष्पक्ष रूप से किया जाता है। विभिन्न समीक्षा पद्धतियों में विभिन्न तत्वों के कारण यहाँ पर विषय की संबद्धता को दृष्टिगत करते हुये आलोचना पद्धति विशेष के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जाता है। सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति में सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि का एवं स्वच्छंदतावादी पद्धति में रसात्मक वृत्ति का विवेचन – विश्लेषण अभीष्ट होता है। समग्र आकलन और मूल्यांकन तत्पश्चात किया जाता है और अंत में निष्कर्ष के अंतर्गत निर्णायक अभिव्यक्ति होती है जिसके मूल में नैतिक मूल्यों और जीवनादर्शों से समन्वित संदेश होता है।